ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292,REG.No.:561/2013-14 Vol.-I, No.-1, PP-55-58, YEAR 2013

गीता में योगाश्रित त्याग की अवधारणा

❑ डॉ0 संतोष कुमार पाण्डेय

विश्व के सांस्कृतिक पर्दे पर भारतीयता की पहचान त्याग में है, भोग में नहीं। त्याग वह आध्यात्मिक आदर्श है, जिसकी अजस्र धारा भारत में हजारों वर्षों से बह रही है। त्याग भारतीयता की गहराई में पैठी वह जड़ है, जिस पर लोक कल्याण का विशाल वृक्ष खड़ा है। भारतीय संस्कृति 'वयंभाव' का प्रतीक है, जिसमें सब कुछ आ जाता है और जीवन को सब ओर से स्पर्श करता है। जब 'अहंभाव' का निर्गलन हो जाता है तब व्यक्ति फिर व्यक्ति नहीं रह जाता है, अपितु वह तरल होकर पूरे समाज में फैल जाता है। त्यागी महात्मा समाज के लिए जीते हैं और समाज के लिए मरते हैं। उनका शरीर, बुद्धि, साधना, चिन्तन, भोजन सब कुछ दूसरों के लिए होता है। उनको अपनी चिन्ता नहीं रहती है। उनकी चिन्ता स्वयं समाज करता है।

सर्वशास्त्रमयी व 'उपनिषत्–सार–सर्वस्व' श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय मनीषा का सर्वाधिक अनमोल रत्न है। दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन हेतु गीता की महिमा असंदिग्ध है। आधुनिक परिवेश में दिग्भ्रान्त एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ मानव समाज को दिशा–निर्देश कर कर्त्तव्यारूढ़ करना गीता का परम–उद्देश्य है। आज सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के सम्मुख दिग्भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इस स्थिति में गीता के व्यावहारिक आदर्शों की उपयोगिता स्वतः ही बढ़ जाती है। गीता आदर्श एवं सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण कला है। आज के आपाधायी, उलझन व तनावमुक्त जीवन में मनुष्य मात्र को एक स्वस्थ चिन्तन, सम्यक् दृष्टि एवं आशावाद का संदेश गीता प्रदान करती है। मनुष्य सद् व विवेकपूर्ण चिन्तन एवं त्यागपरक कर्म करता हुआ मानव समाज के लिए कितना उपयोगी हो सकता है– इसके सूत्र हमें गीता में सहजता से उपलब्ध हो जाते हैं। त्याग का आदर्श तो व्यक्तिगत मुक्ति का भी त्याग है। सर्वमुक्ति ही मोक्ष का आदर्श है, जिसके लिए ऋषित्व प्राप्त करना होगा। भारतीय ऋषि साक्षात् त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। ऋषि ही निर्भय हो सकता है– 'अभीः' (उपनिषद्)। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर है कि वे लोकोपकारी हों। एतदर्थ आवश्यक है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म में त्याग का भाव हो। ज्ञान में पाण्डित्य प्रदर्शन और यश–पिपासा वर्जित है। ज्ञान का बोझ ढोने वाला तथाकथित विद्वान् उस गर्दभ की तरह है, जिसे चन्दन के भार का तो अनुभव होता है, उसकी सुगन्ध का नहीं: ''यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्यवेत्ता न तु चन्दनस्य।'' भक्ति में स्वार्थ–भाव का त्याग होना चाहिए। अर्थार्थी भक्ति वंचक भक्ति है और निकृष्ट है। शरणागति या प्रपत्ति ही निश्चल एवं उत्कृष्ट कोटि की भक्ति है। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं कि मेरी शरण में आने के बाद भक्त सारी आपदाओं से निश्चिन्त एवं निर्भय हो जाता है: ''सर्वाधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।''1

कर्म में वासना का त्याग ही निष्काम कर्म है। तात्पर्यतः कर्म का त्याग नहीं करना है, अपितु कर्म में त्याग करना है। भोजन का त्याग नहीं करना है, भोजन में स्वाद का त्याग करना है। संकल्प (भोग की कामना) का त्याग किए बिना कोई भी मनुष्य कर्मयोगी नहीं बन सकता है। आचार्य शंकर ने भी ''संकल्प को ही सभी कामनाओं का मूल कहा है: ''संकल्पमूला हि सर्वे कामाः।''2

विषयों का चिन्तन और उसमें आसक्ति ही संकल्प है। गीता कहती है कि ''विषयों का चिन्तन करने वाले पुरूष की उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम और क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध के प्रकोप से जीवन विनष्ट हो जाता है'' : ''ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशत्प्रणश्यति।।''3

यदि मनुष्य अपना और समाज का कल्याण चाहता है तो अनासक्तभाव से अपना कर्त्तव्य कर्म निरन्तर करता रहे। भीतर की कर्मशक्तियों को संगठित करके उन्हें कर्म में नियोजित करने की कला

असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत विभाग) एम0डी0पी0जी0 कालेज, प्रतापगढ़ (उ0प्र0) भारत

ही 'कर्मयोग' है। मछली के आँख पर निशाना लगाते समय यदि अर्जुन का ध्यान द्रोपदी पर चला गया होता तो उसकी कर्मशक्ति बिखर जाती। फलतः न आँख पर निशाना लगता और न द्रोपदी ही मिलती। फलाशा के त्याग से ही कर्मयोग सधता है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ है कि हम कर्म को सदैव साध्य के रूप में देखें, उसे कभी भी साधन के रूप में ग्रहण न करें। हम कर्म तो करें, किन्तु कर्मफल में आसक्ति न रखें। हम कर्म करने से पहले तथा कर्म करते समय भी उससे प्राप्त होने वाले फल के विचार को मन में कदापि न लाएँ। गीता के अनुसार जो कर्म फलाकांक्षा की भावना से किए जाते हैं वे बन्धनकारी होते हैं और जो कर्म फलाकांक्षा की भावना का परित्याग करके किए जाते हैं वे बन्धनकारी न होकर मोक्ष प्रदायक होते हैं। गीता इसी प्रसंग में संन्यास एवं त्याग में भेद करती है। उसके अनुसार ''भौतिक इच्छा पर आधारित कर्मों के परित्याग को संन्यास एवं समस्त कर्मों के फल–त्याग को त्याग कहा जाता है''–

''कम्यानां कर्मणा न्यासं संन्यासं कवयोः विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।''4

अर्थात – इसीलिए गीता कर्म करने वाले तथा उसके फल का परित्याग करने वाले को त्यागी कहती हैः– ''वस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागी इत्यभिधीयते।'' इसी कारण गीता कर्मयोग को कर्म संन्यास से श्रेष्ठ मानती है, यद्यपि उसकी दृष्टि में दोनों ही अभीष्ट हैं। उसकी दृष्टि में कर्मफल में आसक्ति का परित्याग करके कर्म करने वाला ही संन्यासी एवं योगी है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट कहा 'हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में कदापि नहीं। तुम कर्मफल का हेतु भी न बनो और अकर्म में तुम्हारी आसक्ति भी न हो–

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।''5

अर्थात – कर्म स्वयं बुरा नहीं है। कर्म के प्रति फलाशा या आसक्ति बुरी है। कामना को त्यागकर 'कर्त्तव्यतया कर्त्तव्य' का सम्पादन श्रेयस्कर है। चाहकर भी कर्म से संन्यास नहीं लिया जा सकता है। कर्म का त्याग प्रकृति के नियम के विरूद्ध है। शरीर से कर्म न करने पर भी मन–बुद्धि से कर्म होता रहता है। क्रिया ही जीवन है और कर्म जीवन की सुगन्ध है। जीवन कर्म में व्यक्त होता है और मृत्यु अकर्म में। गीता की सुसंगत मान्यता है कि ''कोई पुरूष क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा अवश हुए सभी पुरूषों से कर्म करवा लिया जाता है''–

''न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''6

अर्थात –पुनः गीता का उपदेश हैः ''तुम अपने नियत कर्म (कर्त्तव्यकर्म) को करो, क्योंकि अकर्म से कर्मश्रेष्ठ है। अकर्मी होने पर तुम्हारा शरीर–निर्वाह भी नहीं होगा–

''नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।''7

अर्थात –इस प्रश्न का उठना सहज है कि कर्म का वह कौन सा तरीका है, जिसको जान लेने से मनुष्य को 'कर्म–क्षेत्र' में निरन्तर सफलता मिलती रहती है?इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में निहित हैः ''ऋतम्भरा चं तत्र प्रज्ञा।''8 अर्थात् जिस 'ऋत्' (नैतिक व्यवस्था) से प्रज्ञा भरी है, वही कर्तव्य का विधान करती है। मनुष्य प्रज्ञावान् है और विश्व में निहित नैतिक मूल्यों का ज्ञाता भी। नैतिक मूल्यों की सुरक्षा हेतु विवेकी मनुष्य जवाबदेह है, अविवेकी पशु नहीं। मनुष्य में प्रवृत्तियों को संयमित करने की अपूर्वशक्ति होती है। 'कर्म–क्षेत्र' में मनुष्य चौराहे पर खड़ा है। चाहे तो वह सत्कर्म करे या दुष्कर्म। उसके सामने कर्म का विकल्प सदैव खुला है। यह मनुष्य भी संकल्प शक्ति पर निर्भर है कि वह राम बनेगा या रावण, कृष्ण बनेगा या कंस। जन्म के समय वह कोरा कागज है। वह चाहे उस पर गीत लिखे या गाली। चूंकि मनुष्य स्वतंत्रकर्ता है, इसीलिए समाज में उसके कर्मों की निन्दा–प्रशंसा होती है।

कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा निर्धारित होते हैं। गुण एवं स्वभाव के अनुसार ईश्वरार्पण भाव से ''नियतकर्म (कर्तव्यकर्म) करने वाला पुरूष कमल पत्ते की तरह पाप से निर्लिप्त रहता हैः– ''लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।''9 वह भगवान् कृष्ण की तरह संसार में रहते हुए भी उसके प्रभाव से मुक्त रहता है। वह कर्म करते हुए भी कर्ता के अहंभाव से निर्लिप्त रहता है। लोकसंग्रह से प्रेरित होकर कर्म करने वाला पुरूष निरहंकारी होता है और सच्चे अर्थ में कर्मयोगी भी। जो कामना के वशीभूत नहीं हैं, वे ही भगवान् शंकर की तरह लोकहित में अपने दायित्व का निर्वाह कर सकते है। समुद्र–मन्थन से उत्पन्न कालकूट से झुलस रहे लोगों के रक्षार्थ भगवान शिव का विषपान करना कर्मयोग और त्याग–भावना का जीवन्त आदर्श है। सकामकर्म का त्याग न करने से परस्पर बिखराव, द्वेष और राक्षसी द्वन्द्वको बढ़ावा मिलता है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति बाधित हो जाती है। विपरीत धारणाओं, झूठी आशाओं, दिवास्वप्नों, अतीत की

दुश्चिन्ताओं, वर्तमान के उद्वेगों और भविष्य में सम्भाव्य अनर्थों से भयाक्रान्त मनुष्य कर्म के क्षेत्र में भटक सा गया है। फलासक्ति को त्यागकर बुद्धि को शान्त एवं सन्तुलित रखते हुए अपने सहज 'स्वकर्म' को सुचारु रूप से करने में ही व्यक्ति और समाज दोनों का हित है। गीता कहती हैः ''आसक्ति को त्यागकर सिद्धि–असिद्धि दोनों परिस्थितियों में समभाव होकर तुम कर्म करो। यही समभाव सही अर्थ में योग है–

''योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।''10

अर्थात –अहंकार का वर्चस्व होने पर मन एवं बुद्धि के बीच दूरी बढ़ जाती है। 'बुद्धि–अस्त्र' के कुंठित होने पर वासनाओं का जमघट लग जाता है। वासनाओं के प्रभाव से बुद्धि अपारदर्शी और मन्द पड़ जाती है। परिमार्जित बुद्धि (विवेक) ही आत्मतत्त्व के अनुसंधान में सहायक है। 'अर्जुनरोग' (वासना) का उपचार तो एकमात्र 'श्री कृष्णोपचार' (विवेक) ही है। समत्व बुद्धि से कर्म में कुशलता आती है और यही योग है– ''योगः कर्मसु कौशलम्।'' यह संसार कर्मबन्धन हैः ''लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'' विवेक से कर्मबन्धन का नाश होता है– ''बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।''11 आदर्श लक्ष्य को मजबूती से पकड़कर कर्त्तव्यकर्म का पालन करना ही 'बुद्धियोग' है। 'बुद्धियोग' से चित्त निर्मल होता है और आत्मबोध का द्वार खुल जाता है। सबमें अपने को देखना और अपने में सब को देखना ही आत्मबोध है। ऐसा साक्षात्कारी पुरूष ही लोकसंग्रह के भाव से निष्काम कर्म करने में निरत हो सकता है। यही 'समत्वयोग' है।

गीता का स्पष्ट निर्देश है कि ''अनुकूल–प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में अन्तर्द्वन्द्वके क्षण मन को सन्तुलित बनाये रखना चाहिए'':– ''नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।''12

अर्थात –बाह्य वस्तुएँ हमारे मन में तूफान नहीं पैदाकर सकतीं। हम स्वयं अपनी दुर्बलता से उनका गलत मूल्यांकन करते हैं और अपने भीतर हलचल पैदा करने के लिए हृदय–पट खोल देते हैं। गीता कहती है कि हम स्वयं अपने मित्र हैं और शत्रु भी– ''आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।''13 बाहर हम जो कुछ भी देखते हैं वह हमारे ही भीतर का प्रतिविम्ब है। जो सर्वत्र एक ही आत्मा को देखता है, उसे न मोह होता है और न शोक। यही कारण है कि त्यागी ऋषि सदैव प्रसन्न रहता है और संसारी जीव सदैव खिन्न। कामनाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1– जीवन–रक्षा सम्बन्धी कामना
2– अतिशय संग्रह की कामना
3– परमात्मलाभ की कामना।

जीवन–रक्षा की कामना बुरी नहीं है। जीवन के लिए भोजन जरूरी है। भोजन में स्वाद की कामना घातक है। सर्वाधिक घातक कामना अतिशय धन संग्रह की कामना है। ऐसी कामना सर्वथा त्याज्य है। पुनीत कामना परमात्म लाभ की कामना है जो वैराग्यवर्धक है। यह कामना सभी कामनाओं का विनाश कर देती है और आत्मा का बोध कराने के बाद स्वयं भी नष्ट हो जाती है– ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।''14 राजसिक एवं तामसिक कामनाओं को नष्ट करने के लिए सात्त्विक कामनाएँ औषधि का काम करती हैं। आत्मसाक्षात्कार कराने के बाद सात्त्विक कामनाएँ वैसे ही दूर हो जाती हैं जैसे रोग मिट जाने पर दवाएँ।

त्याग कोई पारलौकिक वस्तु नहीं है। त्याग की सार्थकता है 'भोग में त्याग''। अर्थात् निष्काम भोग ही त्याग है। वस्तु का भोग करते समय लोकसंग्रह का भाव होना चाहिए। धन उतना ही संग्रहणीय है, जितना जीवन जीने के लिए जरूरी हो। आवश्यकता से अधिक संग्रह चोरी हैं, हिंसा है, पाप है। स्वस्थ शरीर के लिए संतुलित आहार अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ चित्त रहता है। शरीर साधना का साधन है, साध्य नहीं। शरीर को साध्य मानकर अतिशय भोग करना विरोचन धर्म (राक्षसी धर्म) है। त्याग की तत्त्वमीमांसा समझे बिना भोग की थकान से विश्रांति कहाँ? ईशोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञभाव या त्याग–भाव से सांसारिक विषयों का भोग करना चाहिए और पराये धन की लालसा नहीं करनी चाहिएः ''तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।''15 सांसारिक वस्तुओं के साथ यदि सम्बन्ध पवित्र और विवेकपूर्ण हों तो वस्तुएँ दुःख का कारण नहीं बन सकती हैं। समत्वभाव से युक्त व्यक्ति ही फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म करता है। ऐसा व्यक्ति सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय, शत्रु–मित्र और मान–अपमान का समान समझकर कर्म करता है। इस प्रकार गीता समत्वभाव से निष्काम होकर कर्म करने का आदेश देती है जो उसके त्याग की भावना एवं अवधारणा का आदर्श है। गीता कर्म में त्याग का उपदेश देती है, कर्म के त्याग का नहीं।

गीता के कर्मदर्शन की उपयोगिता आज भी

निर्विवाद है। कर्म को अकर्म से श्रेयस्कर बताते हुए निष्काम भाव से कर्त्तव्य–कर्म के सम्पादन का आदेश गीता की अपनी सार्वभौम विशेषता है। गीता का दर्शन त्यागमय जीवन का

समर्थन करते हुए स्वार्थपरक प्रवृत्तियों का बहिष्कार करता है। इसमें कर्म का त्याग भी नहीं होता और त्याग का आदर्श भी सुरक्षित रहता है। समसामयिक भारतीय परिवेश में, जबकि सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार का बोलबाला है, त्यागपरक निष्कामयोग की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। उल्लेखनीय है कि राजनीतिक और प्रशासनिक सेवाएँ, समाज–सेवा के साधन हुआ करती हैं किन्तु आज इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध है और समाज सेवा का साध्य अप्राप्य हो गया है। यदि कम से कम हमारा वर्तमान नेतृत्व और सेवा–संवर्ग ही निष्काम–भाव से योजनाओं का निर्माण एवं कार्यान्वयन करे तो लोक सेवा का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। भ्रष्टाचार एवं दुराचार मुक्त समाज के निर्माण में निष्काम कर्मयोग का त्यागपरक आदर्श की व्यावहारिकता आज भी समीचीन है। गीता की यह शिक्षा आज भी मूल्यवान है कि अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को अपने संकीर्ण स्वार्थपरक आवेगों को जीतना होगा और कर्म में त्याग की लोकोपकारी प्रवृत्ति को अपनाना होगा। लोकसंग्रह के भाव से सत्कर्म करने का स्वभाव बनाना होगा। ऐसे भाव से कर्म करने वाले कृतकृत्य ऋषि सिद्ध कहलाते हैं, जो वेतन या यश के लिए कर्म न करके स्वान्तःसुखाय कर्म करते हैं। जैसे सूर्य चाहकर भी अन्धकार नहीं बिखेर सकता वैसे ऋषि या त्यागी चाहकर भी बुरा कर्म नहीं कर सकता है। वह अपना सब कुछ त्यागकर श्री कृष्ण की भांति समाज का हो जाता है और कृतकृत्यता के आनन्द का अधिकारी बन जाता है। वह समाज से कम लेता है और अधिक देता है। गीता में यही आदर्शमूलक एवं व्यावहारिक योगाश्रित त्याग की भावना है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1– गीता 18/66
2– गीता शा0भा0 614
3– गीता 2/62–63
4– गीता–18/2
5– गीता 2/47
6– गीता 3/5
7– गीता 3/8
8– योगसूत्र–1/48
9– गीता–5/10
10– गीता 2/48
11– गीता 2/39
12– गीता 13/10
13– गीता 6/5
14– गीता 4/37
15– ईशोपनिषद्–1

*****